स्वीकृत ज्ञानः भूगोल में निहित राजनैतिक संकेतार्थ

यमुना सन्नी

पाठ्य पुस्तकें, पारम्परिक रूप से, लेखन की शैली में तथा उनके द्वारा अपनाए जाने वाले सैद्धान्तिक व राजनैतिक दृष्टिकोणों में एक खास तरह के साहित्य को परिभाषित करती हैं। इस लेख में पाठ्य पुस्तकों की पड़ताल की गई है और खासतौर पर यह तलाश करने की कोशिश की गई है कि भूगोल की पाठ्य पुस्तकें दुनिया के इतिहास, राजनीति और सौन्दर्य आदि को प्रभावित करने वाले मनुष्य तथा प्रकृति के सर्वव्यापक सम्बन्ध को किस तरह से सामने लाती हैं।

पढ़ने से ज्ञान बढ़ता है और समझ गहरी होती है; इससे हमें अपने रोज़मर्रा के अनुभवों के परे जाने का अवसर मिलता है और हमारे विचारों को नया आयाम मिलता है। अक्सर ही पढ़ते हुए पाठक को देश-काल की सीमाओं को लांघकर ऐसे अनुभव प्राप्त होते हैं

जो अन्यथा शायद उसे नहीं मिलते। ये अनुभव व्याख्याओं को ऐतिहासिक और स्थानिक गहराई प्रदान करते हैं। पर क्या पाठ्य पुस्तक लेखन की खास प्रकृति की वजह से ये सब सम्भावनाएँ खो जाती हैं?

वे कौन-से अहाते हैं जिनमें अस्पष्ट और प्रचलित ढर्रे से बँधा पाठ्य पुस्तक लेखन कैद हो जाता है जिसमें विस्तार और स्पष्टीकरणों को नज़रन्दाज़ कर दिया जाता है? ये किताबें दुनिया की व्याख्याओं में किन शैक्षणिक व सामाजिक-राजनैतिक निहितार्थों को उभारती हैं? यहाँ कुछ कार्यशालाओं के अनुभवों, तथा स्कूली पाठ्य पुस्तकों की समीक्षाओं के द्वारा इन मुद्दों की पड़ताल की गई है। भाग-1 विषय के साहित्य में हुई भरपूर वृद्धि तथा पाठ्य पुस्तकीय परम्पराएँ उससे कैसे भिन्न हैं, इस पर विचार करता है। भाग-2 पाठ्य पुस्तकों में प्रस्तुत किए जाने वाले मानव-प्रकृति सम्बन्धों की कुछ विशिष्टताओं की पड़ताल करता है। यह दिलचस्प है कि पाठ्य पुस्तकों की शैली व विषयवस्तु, दोनों पर ही पूंजीवादी सम्बन्धों के स्पष्ट प्रभाव देखे जा सकते हैं।

भाग-3 एकलव्य की पाठ्य पुस्तकों की पड़ताल करता है जो स्कूल की पारम्परिक कार्यप्रणालियों की समीक्षाओं के आधार पर तैयार की गई थीं। हालाँकि, एकलव्य की पाठ्य पुस्तकों की विषयवस्तु और शैली, दोनों ही पारम्परिक पाठ्य पुस्तकों के बेगानेपन को दूर करते हैं, फिर भी, उनके समीक्षात्मक मूल्यांकन से ये बातें सामने आती हैं कि वे (1) उत्पादन में सामाजिक ढाँचे की भूमिका को नज़रन्दाज़ करती हैं और (2) मानव-प्रकृति सम्बन्धों की पड़ताल करते वक्त स्थानिक-सामाजिक स्वरूपों की भूमिका को कम महत्व देती हैं।

भाग-1: जैसे-जैसे उद्देश्य धुँधलाए...

जो कुछ आपको रोचक लगे वह पढ़ने के पूरे चार दिन – होशंगाबाद में हुई एक कार्यशाला की यही तो खास बात थी। यह पठन कार्यशाला एक छोटे-से सफर की तरह थी जिसने कई सुखद अनुभवों को जगह दी, काफी सोच-विचार को उभरने का मौका दिया - ऐसे अनुभव और विचार जो आप पर थोपे नहीं गए थे - वे तो बस उस प्रक्रिया के खुलेपन का ही नतीजा थे। और यही तो मुद्दे की बात है।

जो भी आप पढ़ना चाहें, या जो आपको पसन्द हो, उसे पढ़ना या तो समय चुराने जैसा लगता है या फिर एक ऐसा काम जो आप फुरसत की घड़ियों में करते हैं। हम में से कइयों को याद होगा कि कैसे हमने कक्षा में अध्यापक द्वारा पढ़ाई जाने वाली

किताब में अपनी पसन्द की किताब छिपाकर उन्हें उल्लू बनाया है। फिर स्कूल से लौटते समय बस में भी वही किताब पढ़ना और घर पर गृहकार्य करते समय फिर वही लुकाछिपी का खेल हम स्वेच्छा से ही तो करते थे। पर जब भी कहानी या नाटक, पाठ्यक्रम या कोर्स के हिस्से में आते, उन्हें हम जल्द-से-जल्द पढ़ डालते थे।

जो कुछ आप पढ़ना चाहें और जो यह व्यवस्था (जिसका काम आपको एक पढ़ा-लिखा व्यक्ति बनाना है) आपको पढ़ाना चाहे - इन दोनों के बीच का द्वन्द्व 'पढ़ने' के उद्देश्यों की अलग-अलग समझ के बीच की दूरी का नतीजा है। ये दो समझ हैं - खुद को एक कार्मिक के रूप में ढालने के निश्चित लक्ष्य को पूरा करने के लिए पढ़ना और दूसरा बस जानने के लिए पढ़ना जहाँ लक्ष्य कम केन्द्रित हो, सूक्ष्म हो, और शायद ज़्यादा टिकाऊ भी।

मैंने बम्बई महानगर को बनाने में अफीम की भूमिका पर फारूकी की किताब पढ़ी। काम और उत्पादन के तौर-तरीकों में बदलाव के साथ-साथ समाज में समय की अवधारणा कैसे बदली, इस पर रिफ्किन की किताब पढ़ी और ऐसा ही और बहुत कुछ...। यानी ऐसी चीज़ों का एक वृहद विस्तार था जिन्हें पढ़ने में मुझे मज़ा आ रहा था। और ऐसा भी नहीं था कि यह सब पढ़-पढ़कर जोड़-जाड़कर कोई अकादमिक आलेख लिखना हो। यहाँ मैं, हम जैसे कार्यकर्ताओं पर कभी-कभी काम कर रही बाध्यता से मुक्ति की बात कर ही हूँ।

मैंने एक मित्र से एक उपन्यास को पढ़ने के सुन्दर अनुभव को बाँटा। यह सच्चिदानन्द द्वारा रचित मलयालम उपन्यास 'गोवर्धन्टे यात्रकल' है। आज कई बरसों बाद भी उसके कुछ अंश मेरी स्मृति में साफ-साफ अंकित हैं। इसमें कुछ बेहद मज़ेदार वार्तालाप हैं जो गोवर्धन गैलीलियो, उमरावजान और कबीर से करते हैं। रोचक बात यह भी है कि इस किताब ने मुझे 'उमराव जान' ढूँढ़कर पढ़ने को प्रेरित किया। यह मेरे लिए काफी मुश्किल था क्योंकि 'उमराव जान' में उर्दू का काफी इस्तेमाल है। यानी जब आप अपनी खुद की तलाश में आगे बढ़ रहे हों तो कठिन चीज़ों को भी उठाते और पढ़ जाते हैं।

यह हकीकत है कि जीवन में हम जो रोचक पठन करते हैं, चाहे वह साहित्यिक हो, राजनैतिक हो या कोई अन्य, उसमें से अधिकांश पढ़ने की वैध जगहों के बाहर ही किए जाते हैं। स्कूल-कॉलेज की पढ़ाई के दौरान तो इतने सारे काम होते हैं कि रुकने के लिए समय ही नहीं होता। यह परिस्थिति सबको जल्दी-वाले-जवाबों या एकमात्र जवाब, एकमात्र निष्कर्ष की ओर बढ़ने को ही प्रशिक्षित करती है। एकाधिक कारणों या एकाधिक

व्याख्या की पड़ताल करने का उनके पास वक्त ही नहीं होता। पढ़ाई की इस प्रक्रिया का चरम विरोधाभास या विडम्बना तो यही है कि यह पढ़ाकू से जवाब तलाशने की अपेक्षा ही नहीं करता। एक सीखा-सिखाया पढ़ाकू तो केवल बने-बनाए माल के लिए अपना हाथ फैला देता है।

कुछ लोगों ने इस पर भी चर्चा की कि हम इस कार्यशाला की सीख को शिक्षा व्यवस्था में कैसे वैद्यता दे सकते हैं। स्कूल में 'पढ़ने की प्रकृति' में किसी भी तरह के बदलाव के प्रयास को सम्भावित रोज़गार पर खतरे के रूप में देखा जाता है। सामान्यतः यह सवाल उठाया जाता है कि बहुत सारी रुचिकर चीज़ों के बारे में जानकारी हासिल करना और इस प्रक्रिया के माध्यम से एक सोच बनाना - इस सबसे तुरन्त (in utilitarian terms) क्या फायदा मिलता है? फिर भी कार्यशाला के सहभागियों ने यह सोचने का प्रयास किया कि कार्यशाला की सीख को स्कूली शिक्षा तक कैसे ले जा सकते हैं। मुझे लगता है कि इसका कोई तैयार जवाब नहीं है। इस सवाल के प्रत्युत्तर में मेरा एक और सवाल है - हम एक ऐसी दुनिया का सपना कैसे देखें जिसमें जानना और सीखना पूँजीवाद के साथ उसके प्रमुख जुड़ाव से मुक्त किया जा सके? जानने और सीखने की प्रक्रिया ही हमें किसी ऐसे सवाल का जवाब ढूँढ़ने, या कम-से-कम ढूँढ़ने की कोशिश करने में मददगार हो सकती है।

और पाठ्य पुस्तकें?

कई लोग तर्क देते हैं कि स्कूल सामाजीकरण और सीखने की पूरी प्रक्रियाओं के सिर्फ एक हिस्से का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। फिर पाठ्य पुस्तकों की विषयवस्तु इतना महत्वपूर्ण मसला क्यों होना चाहिए? शायद बात सही हो, पर चूँकि स्कूली शिक्षा अपने सभी महत्वपूर्ण आयामों, जैसे कक्षाई व्यवहारों और परीक्षाओं में मुख्य रूप से यांत्रिक ही होती है, और ये सभी आयाम पाठ्य पुस्तकों पर ही केन्द्रित होते हैं, अतः इन्हें ऐसी वैधता मिल जाती है जो रोज़गार क्षेत्र तक भी फैल जाती है। आम स्थिति यह है कि पाठ्य पुस्तकें बच्चों को विश्लेषण के प्रति निरुत्साहित करती हैं और जानकारी को ऐसे सूत्र रूपों में कण्ठस्थ किए जाने को प्रोत्साहित करती हैं जिन्हें प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए उपयोगी समझा जाता है।

मदन सरूप, जो एक मार्क्सवादी शिक्षाशास्त्री हैं और बारह साल से भी ज़्यादा समय तक स्कूली शिक्षक रहे हैं, ऐसे सम्बन्धों का विश्लेषण करते हैं। वे इस बात को रेखांकित करते हैं कि कारखाना प्रणाली की कई विशेषताएँ स्कूलों में अपना ली गई हैं। "अपेक्षित पढ़ाई की दर को 'निर्धारित' करने की प्रतिस्पर्धा बढ़ रही है। और औपचारिक स्कूली शिक्षा का कालखण्ड जैसे-जैसे कुछ वर्ष बढ़ाया गया है, उसकी विषय-

वस्तु के स्तर को वैसे-वैसे गिराकर मामूली बना दिया गया है। यह भी उद्योग जगत में घट रही एक समानान्तर प्रक्रिया 'डिस्किलिंग' अर्थात् योग्यता का महत्व घटाते जाना - को परिलक्षित करता है... इन विशेषताओं को स्कूलों में प्रोत्साहित किया जाता है क्योंकि ये सामाजिक ऊँच-नीच के क्रम को जस का तस बनाए रखती हैं।"

पाठ्य पुस्तकें तैयार करने का दृष्टिकोण पूरी स्कूली पढ़ाई के दृष्टिकोण से निकलता है, जिसका उत्पादन प्रक्रियाओं से गहरा नाता है। पाठ्य पुस्तकों की विषयवस्तु का विश्लेषण करके इस बिन्दु की पड़ताल की जा सकती है। इनमें भूगोल के एक अहम मुद्दे, मानव-प्रकृति सम्बन्ध, को जिस तरह से देखा जाता है व प्रस्तुत किया जाता है उससे बहुत कुछ प्रकट होता है!

भाग 2: भूगोल की पाठ्य पुस्तकों में मानव-प्रकृति सम्बन्ध

यहाँ मुख्यतः एस.सी.ई.आर.टी. मध्य प्रदेश की पाठ्य पुस्तकों की समीक्षा की गई है। हालाँकि ये किताबें, दूसरे राज्यों की किताबों तथा एनसीईआरटी की किताबों से बहुत ज़्यादा अलग नहीं हैं। अतः यह विश्लेषण हमारे देश में भूगोल की पाठ्यपुस्तकों की समग्र स्थिति पर लागू होता है।

इन पाठ्य पुस्तकों में दिखने वाली एक खास बात यह है कि ये मानकर चलती हैं कि 'मनुष्य' और 'प्रकृति' नाम की दो इकाइयों के बीच द्वन्द्व की स्थिति होती है। ये किताबें इस मुद्दे की जाँच-पड़ताल करने की कोशिश करती हैं कि प्रकृति में मानवीय हस्तक्षेप विनाशकारी क्यों हो जाता है? इसका कारण जनसंख्या वृद्धि को बताया जाता है। यह एकतरफा अंकगणित है जो यह मानता है कि पर्यावरण पर निर्भरता इसलिए बढ़ जाती है क्योंकि ज़्यादा लोगों को भोजन इत्यादि की ज़रूरत पड़ेगी। ज़ाहिर है कि यह स्पष्टीकरण उन सामाजिक ढाँचों की अनदेखी कर देता है जिनके तहत उत्पादन प्रक्रिया में अलग-अलग वर्गों के पर्यावरण से सम्बन्ध, अलग-अलग तरह से काम करते हैं। संख्या में समान विभिन्न वर्गों के समूह संसाधनों का समान मात्रा में उपयोग नहीं करते; इस लिहाज़ से समाज में उनकी स्थिति जानना ज़रूरी है।

पाठ्य पुस्तकें कहती हैं कि विशाल जनसंख्या के लिए पर्याप्त खाद्य जुटाने की समस्याओं का मुकाबला हरित क्रान्ति जैसे तकनीकी प्रयासों से हो सकेगा। इस प्रकार हरित क्रान्ति जैसी ज़्यादा गहन मानवीय गतिविधि को जनसंख्या वृद्धि की वजह से सामने आई पर्यावरण-सम्बन्धी समस्या के समाधान के रूप में दर्शाया जाता है। पर यह बात

पाठ्य पुस्तकों में कुछ अन्य जगहों पर दिखाई देने वाले मानवीय संयम की वकालत के स्वर के विपरीत है, उदाहरण के लिए यह देखें:

"मनुष्य को भौतिक और जैविक पर्यावरण के साथ एकदम सही तालमेल से जीना सीखना पड़ेगा ताकि पृथ्वी भविष्य की पीढ़ियों के लिए भी निवास करने योग्य बनी रहे।"

इसके साथ ही मानवीय क्रियाकलापों को निर्धारित करने में पर्यावरण की भूमिका के बारे में कई वक्तव्य देखे जा सकते हैं:

"हम समझते हैं कि मनुष्य की सभी गतिविधियाँ उसके प्राकृतिक पर्यावरण के अनुरूप ही होती हैं। उसके द्वारा उद्योगों का चुनाव, उसके कृषीय उत्पाद... यहाँ तक कि उसके धर्म और आदर्श भी उसके प्राकृतिक पर्यावरण द्वारा ही निर्धारित होते हैं।"

पाठ्य पुस्तकों में दिखाई देने वाले ये विरोधाभासी रुख पर्यावरणीय समस्या, उसकी प्रकृति, और कारणों आदि को तलाशना मुश्किल बना देते हैं।* पर यह ध्यान में रखना ज़रूरी है कि पर्यावरण का संकट उत्पादन प्रक्रिया से ही पैदा होता है। उदाहरण के लिए, प्रकृति अक्सर पूंजी के रूप में रूपान्तरित कर दी जाती है। डिसूज़ा जैव-तकनीक से समृद्ध परिष्कृत बीज उद्योग द्वारा प्रकृति के ऐसे गुणात्मक रूपान्तरण, बाँध निर्माण द्वारा नदी के पारिस्थितक तंत्र के रूपान्तरण, या एकधान्य कृषि द्वारा जंगलों के रूपान्तरण की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। अतः जिसे आज हम परिस्थितकी संकट के रूप में जानते हैं वह सिर्फ मानवता के लिए ही संकट नहीं है, बल्कि पूँजीवादी पुन-र्उत्पादन के लिए भी एक संकट है।

राजनैतिक संकेतार्थ

हमारी पाठ्य पुस्तकों में, समाज नामक एकरूपी इकाई को प्रकृति नामक एक अन्य इकाई के साथ अन्तर्क्रिया करते हुए प्रदर्शित किया जाता है। समाज को एकरूपी बताने वाले वर्णन से यह मान्यता मिलती है कि सभी मनुष्यों का प्रकृति के साथ केवल एक ही किस्म का सम्बन्ध होता है। परन्तु ऐतिहासिक रूप से मनुष्यों के समुदाय उत्पादन की प्रक्रिया के आधार पर जिन विविध स्वरूपों में संगठित हुए, यदि हम उनकी पड़ताल करें, तो हम पाते हैं कि जनजातीय समाजों के सरल व समतावादी पारस्परिक सम्बन्ध गहरे रूप से उनकी उत्पादन प्रक्रिया से जुड़े रहते हैं। पर स्थायी कृषि का ढाँचा ऊँच-नीच पर आधारित समाज

**लम्बे समय तक, भूगोल में इस बात की बहस रही कि मानव-प्रकृति सम्बन्ध में किसका वर्चस्व है। एक ओर जहाँ कुछ (निर्धाराणात्मक विचारधारा वाले) भूगोलशास्त्रियों ने पर्यावरण के प्रभुत्व को ज़्यादा माना, वहीं (सम्भावनात्मक विचारधारा वाले) अन्य विद्वानों ने भूगोल को स्वरूप देने में मनुष्यों की अहम भूमिका की ओर इशारा किया। पर जब 'मानव-प्रकृति' सम्बन्ध की जटिलताओं की पड़ताल की जाने लगी तो भौगोलिक विश्लेषण ऐसे भोले सरलीकरणों से दूर हट गया ।*

के विभिन्न स्तरों में सम्पत्ति के संचय के द्वारा भूसम्पदा और श्रम के असमान विभाजन की प्रक्रिया से निर्मित होता है।

पूँजीवादी औद्योगिकीय समाजों में, तकनीक तथा मानव श्रम को ऐसा रूप दिया जाता है कि अधिकतम मुनाफा प्राप्त हो सके। वर्गीकृत समाज पूँजीवादी उत्पादन की सामाजिक व्यवस्था से ही पैदा होता है। यहाँ कारखानों के तंत्र द्वारा प्रकृति को अवधारणात्मक रूप से उत्पादन के संसाधनों में बदल दिया जाता है। पारम्परिक उद्योगों के विपरीत, यहाँ पूँजी के स्वामियों व श्रमिकों के बीच दूरियाँ बढ़ जाती हैं और इस तरह अलग-अलग वर्गों का निर्माण होता है। इसीलिए समरूपी (अर्थात् एक समान) समाज की चर्चा जनजातीय समाजों के सन्दर्भ में ही की जा सकती है। दूसरे समाजों में, जाति, लिंग और वर्ग, उत्पादन की व्यवस्था के आधार अंग होते हैं।

इसलिए जब पाठ्य पुस्तकें पर्यावरण-सम्बन्धी समस्याओं की चर्चा जनसंख्या नियंत्रण व संसाधनों की निरन्तर उपलब्धि के अर्थों में करती हैं तो उसमें राजनैतिक संकेतार्थ भी निहित होते हैं, उदाहरण के लिएः

"पर्यावरण, जनसंख्या और संसाधन के विचार तटस्थ नहीं होते। वे अपने मूल में राजनैतिक होते हैं और उनके राजनैतिक प्रभाव होते हैं। उदाहरण के लिए, एक बार चरम सीमाओं के संकेतार्थ संसाधन, अभावग्रस्तता और जीवन-निर्वाह की अवधारणाओं को घेर लेते हैं तो जनसंख्या पर एक चरम सीमा तय कर दी जाती है। जनसंख्या-आधिक्य जैसे शब्द के राजनैतिक निहितार्थ विनाशकारी हो सकते हैं। कहीं-न-कहीं कोई अनावश्यक है, और इतना है नहीं कि सबको पर्याप्त मिल सके। क्या मैं अनावश्यक हूँ? बिलकुल नहीं। क्या आप अनावश्यक हैं? बिलकुल नहीं। तो फिर कौन अनावश्यक है? निश्चित ही वे ही होंगे... ये बिलकुल उचित है कि उन्हें, जिनका समाज के प्रति इतना कम योगदान है, ही इस बोझ का आघात झेलना चाहिए...।" (हार्वे,1996)

समाज के उन वर्गों को, जो सामाजिक और आर्थिक रूप से हाशिए पर स्थित हैं, राज्य की नीतियों के कारण बढ़ती जनसंख्या और उसके दबाव का अपराधबोध झेलना पड़ता है। इसके अलावा, पाठ्य पुस्तकों के दृष्टिकोण प्रकृति के साथ अपने सहज रिश्तों से बेदखल कर दिए गए लोगों (विकास परियोजनाओं, शहरीकरण इत्यादि की वजह से) के असंख्य संघर्षों को अनदेखा कर देते हैं। यह प्रक्रिया, जिसके द्वारा लोगों को अपने जीने के स्थानों और सम्बन्धों से विस्थापित किया जाता है, उत्पादन के एक खास प्रकार के सम्बन्ध का परिणाम है। मार्क्यूज़ इसे बहुत अच्छे ढंग से व्यक्त करते हैं, "प्रकृति पर वर्चस्व के द्वारा मनुष्य का मनुष्य पर निरन्तर प्रभाव-

शाली होता वर्चस्व।"

अतः यह बहुत ज़रूरी है कि हमारी समझ जनसंख्या के पर्यावरण के लिए खतरा होने के स्पष्टीकरणों से आगे बढ़े। हम इस वक्त ऐसे दौर में हैं जहाँ वर्ल्ड बैंक और ऐसी अन्य एजेंसियाँ पर्यावरणीय संवेदनशीलता की वकालत करती हैं, अक्सर 'निरन्तरता' और 'प्रकृति के संग तालमेल' जैसी शब्दावली का इस्तेमाल करती हैं। ऐसी शब्दावलियों के बदलते निहितार्थ हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, उत्खनन में लगी पूँजी की पड़ताल करते हुए ब्रिज (1992) पूंजीवादियों द्वारा खुद को पर्यावरण के रक्षक बताने के नए दिखावे के बारे में लिखते हैं। उत्खनन का विरोध पर्यावरणविदों द्वारा ही नहीं बल्कि पूँजीवादी हितों द्वारा भी किया जा रहा है। अतः अलग-अलग हित, पर्यावरण को लेकर अलग-अलग उपदेश देते हैं, प्रत्येक हित पर्यावरणीय खतरे पर एक अलग ही चिन्ता को प्रकट करता है। प्रकृति को संसाधनों के ऐसे भण्डार के रूप में परिभाषित किया जाता है जिसका प्रबन्धन किया जाना है, और इस प्रक्रिया में इसको लेकर होने वाली चिन्ताएँ व उपदेश भी पूँजीवादी ढाँचे में ही फँसे रहते हैं।

पर जैसा कि हार्वे कहते हैं कि (संसाधनों की उपलब्धता की) 'दीर्घकालिक' तकनीकों के पक्ष में न होना बहुत कठिन है क्योंकि इस शब्द के सकारात्मक संकेतार्थ हैं; राजनीति और नीतियाँ इसे पर्यावरणीय रूप से संवेदनशील होने का दर्जा देती हैं। वे बताते हैं कि यह बात, जैसा कि पारिस्थितिकी विज्ञानी तर्क देते हैं, सही है कि ऋण अदायगी कई

पारिस्थितिकीय समस्याओं की जड़ में है। पर "निश्चित रूप से यह ऋण का भुगतान न करने का भय ही है जो अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी को यह मानने पर विवश करता है कि पर्यावरणीय दुर्लभता, प्राकृतिक सीमाओं, जनसंख्या आधिक्य और संसाधनों की निरन्तर उपलब्धता के बारे में होने वाली सारी चर्चा एक खास तरह के सामाजिक क्रम को बचाए रखने की खातिर है, न कि प्रकृति को बचाने के बारे में।"

भाग 3 – भूगोल की पाठ्य पुस्तकों के लिए नए ढाँचे

1980 के दशक में एकलव्य ऐसी पाठ्य पुस्तकें लेकर आया जिन्होंने जीवन सन्दर्भों से जुड़ी शिक्षा पर ज़ोर दिया। अमूर्त विचारों और संक्षिप्त पाठों के कारण पढ़ाई में आम तौर पर होने वाली शैक्षणिक अड़चनों से बहुत हद तक पार पाने का इनसे एक नया मार्ग मिला। पर मौजूदा खण्ड इन पाठ्य पुस्तकों द्वारा मानव-प्रकृति सम्बन्धों को प्रस्तुत करने के ढंग के समीक्षात्मक मूल्यांकन पर ही केन्द्रित किया गया है।

भूगोल में, पारम्परिक पाठ्य पुस्तकों की तुलना में एकलव्य द्वारा अपनाया गया लम्बा मार्ग 'स्थूल प्रकृति' और 'मनुष्य' को जोड़ने का प्रयास है। यह उनके एक-दूसरे से बिलकुल पृथक आयामों में होने की उस सामान्य स्थिति से एकदम अलग बात थी जिसके कारण इनके बीच के सम्बन्ध कोई मुद्दा ही नहीं बनते थे। इस एकीकरण का प्रयास मुख्यतः विशेष क्षेत्रों के उदाहरणों, जैसे कि पर्वतों, मैदानों तथा पठारों, के अध्ययनों के द्वारा किया गया - इनमें से प्रत्येक भू-आकार के प्रतिनिधि के रूप में एक गाँव चुना गया।* पानी की उपलब्धता के कारण मैदानों में होने वाले उत्पादन की ऊँची दर की ओर ध्यान दिलाया गया है जिसके कारण कटाई के समय सतपुड़ा पर्वती क्षेत्र से काम-रहित अतिरिक्त मज़दूर (प्रवासी) वहीं चले आते हैं। इस प्रकार आमदनी के लिए लोग मौसम के अनुरूप पर्वती क्षेत्रों से मैदानों में आ जाते हैं।

प्रतिनिधि मामलों के अध्ययनों के एक अन्य समूह में ऊष्मा क्षेत्रों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। एक ओर जहाँ कॉन्टूर स्टैपिंग (सीढ़ीनुमा खेतों) के रूप में होने वाली धान की गहन खेती जैसे मानवीय हस्तक्षेप इंडोनेशिया (के भूमध्य क्षेत्र) में प्रमुख हैं, वहीं जापान (समशीतोष्ण क्षेत्र) में औद्योगिक उत्पादन प्रमुख है। टुण्ड्रा में, मिट्टी

**सतपुड़ा पर्वतीय क्षेत्र में स्थित गाँव पहावाड़ी, नर्मदा के मैदानों में स्थित कोटगाँव और मालवा के पठार में स्थित बालमपुर।*

में बर्फ की स्थायी मौजूदगी प्राकृतिक वनस्पति या कृषि को ज़्यादा पनपने नहीं देती, फिर भी मनुष्य कुछ खास तरकीबों से प्रकृति को अनुकूल बनाकर अपना जीवन निर्वाह करता है।

प्रस्तुत मामलों के अध्ययनों के दोनों समूहों में हम देखते हैं कि गाँवों या क्षेत्रों के वर्गीकरण के आधार के रूप में भौतिक/प्राकृतिक मानदण्ड का चयन किया गया है। यह सत्य है कि सभी अध्ययनों में मानवीय हस्तक्षेपों का विस्तार से परीक्षण किया गया है। पर क्षेत्रों का वर्गीकरण और उनके मध्य तुलनाओं को प्रोत्साहित किया जाना इस धारणा को जन्म देता है कि मानव-प्रकृति सम्बन्ध भौतिक भूगोल के आधार पर विकसित होते हैं। इस धारणा को चुनौती दी जा सकती है क्योंकि समान भूआकारों या ऊष्मा क्षेत्रों का भूगोल हमेशा समान नहीं होता। यहाँ भूगोल के अर्थ में वे स्थानिक और सामाजिक प्रक्रियाएँ भी शामिल हैं जो उत्पादन प्रक्रिया का हिस्सा होती हैं। अतः भौतिक भूगोल की समानताओं के आधार पर मानवीय अभिक्रमों को भी समान नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए, ऊपर बताया गया था कि कटाई के दौरान सतपुड़ा पर्वतों से मज़दूर मैदानों की ओर पलायन कर जाते हैं। पर आज हार्वेस्टरों और थ्रैशरों ने परिदृश्य बिलकुल बदल दिया है। हो सकता है कि प्रवासी मज़दूर कहीं और जा रहे हों या उन्होंने अपने प्रवासों को अपेक्षाकृत ज़्यादा स्थाई बना लिया हो। पर इस बात का व्यापकीकरण नहीं किया जा सकता कि ऊँची भूमियों से हमेशा दूसरी जगहों को पलायन (बहिर्प्रवास) ही होता है। पश्चिमी घाटों और असम के चाय/कॉफी के बागान ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ दूसरे क्षेत्रों से मज़दूर पलायन (अन्तर्प्रवास) करके आते हैं। मनुष्यों द्वारा खुद को संगठित करने में या फिर उनके द्वारा की जाने वाली उत्पादन की प्रक्रिया में निर्णायक भूमिका प्राकृतिक मानदण्डों की नहीं होती,

बल्कि जैव-तकनीक, श्रम का विभाजन और बाज़ार इत्यादि के कारण प्राकृतिक अन्तरों का महत्व और भी घट जाता है। उदाहरण के लिए, आजकल आप मौसमी सब्ज़ियाँ और फल सालभर उपयोग कर सकते हैं या विद्युतीकरण द्वारा आप रात को दिन में बदल सकते हैं, जो कि बहुत अधिक ठण्डे क्षेत्रों में खासतौर पर महत्वपूर्ण होता है जहाँ सर्दियों के दौरान रातें ज़्यादा लम्बी होती हैं।

यदि क्षेत्रों का सीमांकन करने के मानदण्ड वे मानव-प्रकृति सम्बन्ध बन जाएँ जो उत्पादन के प्रकार द्वारा तय होते हैं तो भूगोल मानव और प्रकृति नामक दो अलग-अलग इकाइयों में नहीं उलझेगा, उसका ध्यान उनके सम्बन्धों पर ही रहेगा। तो भौगोलिक अध्ययन के लिए किसी क्षेत्र के सीमांकन का आधार क्या होता है? सीमांकनों को किस तरह और क्यों महत्वपूर्ण होना चाहिए? ये उन प्रश्नों में से कुछ हैं जिन पर गहन चर्चा आगे के पन्नों में की गई है।

बदलते भूगोल

ऐतिहासिक दृष्टि से, सिंचाई कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए (हरित क्रान्ति से काफी पहले किया गया) बड़ा हस्तक्षेप था। यह सत्य है कि बड़ी सिंचाई व्यवस्थाएँ मैदानी इलाकों में बनाई गईं, जैसे कि दक्षिण भारत के डेल्टा, पश्चिमी भारत के मैदान और गंगा के मैदानों में। हम ऐसे क्षेत्रों में भूगोल

की प्रकृति को समझने के लिए यहाँ कुछ उदाहरण ले सकते हैं।

दक्षिण भारत के डेल्टाओं के एनीकटों (नदियों के बहाव को नियंत्रित करने के लिए बनाए गए बाँध जिनसे सिंचाई के लिए नहरें निकाली जाती हैं) और पश्चिमी उत्तर प्रदेश की इनन्डेशन नहरों की जगह नई सिंचाई व्यवस्थाओं ने ले ली क्योंकि औपनिवेशिक प्रशासन का लक्ष्य जीवन निर्वाह के लिए की जाने वाली कृषि की जगह व्यावसायिक कृषि करवाना था। पर इनके परिणामों पर नहर क्षेत्रों में रहने वाले लोगों द्वारा करों को लेकर किए गए विरोध का भी असर पड़ा। उदाहरण के लिए, पश्चिमी उत्तर प्रदेश की तुलना में पूर्वी उत्तर प्रदेश पारम्परिक रूप से कृषि के क्षेत्र में ज़्यादा विकसित था। पर पूर्वी उत्तर प्रदेश के सामाजिक भूगोल का प्रमुख पहलू वहाँ के ज़मींदार थे जो जोतदारों से बहुत अधिक किराया लिया करते थे, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में ऐसी स्थिति उतनी व्यापक नहीं थी। गंगा-दोआब क्षेत्र में सिंचाई नहरों द्वारा किए गए औपनिवेशिक हस्तक्षेप ने पश्चिमी और पूर्वी उत्तर प्रदेश की कृषीय सम्भावनाओं को एकदम पलट दिया। पश्चिमी क्षेत्र के किसानों को मिली हुई अपेक्षाकृत स्वायत्तता ने इस प्रक्रिया पर बहुत सकारात्मक असर डाला, तथा गहन श्रम-आधारित कृषि और ऊँचे उत्पादन ने पश्चिमी उत्तर प्रदेश के भूगोल को पुनर्परिभाषित कर दिया।

औपनिवेशिक पंजाब में, नहर सिंचाई ने एक जलप्रेरित समाज को जन्म दिया। नए सिंचित क्षेत्रों में, ज़मीन को गाँव में सिर्फ एक ही जाति के हवाले कर दिया गया और वह वहाँ की निर्विवाद प्रभावशाली जाति बन गई। उन्होंने अधीनस्थ किसानों, कारीगरों और कृषीय श्रमिकों को प्रेरित किया कि वे भी उनके साथ नए इलाकों में बस जाएँ, और इस प्रकार उन्होंने ग्राम समाज बनाए। हार्डिमैन बताते हैं कि नए क्षेत्रों में वर्ग और जाति के ऊँच-नीच के पुराने क्रम फिर से स्थापित हो गए, और इस प्रकार अतीत से पूर्णतः सम्बन्ध तोड़कर नई शुरुआत करने का मौका गँवा दिया गया।

1907 में, ब्रिटिश राज द्वारा नहर के पानी पर कर बढ़ाने के प्रस्तावित कानून का भारी विरोध हुआ। रोचक तथ्य यह है कि जहाँ आम तौर पर ब्रिटिश शासन उपनिवेशों में विरोध के स्वरों को कुचल देता था, वहीं पंजाब में वायसरॉय ने पंजाब विधान-सभा द्वारा पहले ही पारित किए जा चुके कर-निर्धारण के विधान को अस्वीकार कर दिया। इसका कारण यह था कि भारतीय सेना में सैनिकों की बहुत-सी भर्ती पंजाब से होती थी और शासन ऐसे जोखिम नहीं लेना चाहता था जिससे पंजाब की सेना की निष्ठा डगमगा जाए।

हार्डीमैन के अध्ययन से निष्कर्ष निकालते हुए यहाँ यह बताया गया है कि क्षेत्रों के भूगोलों को आकार और पुनर्आकार देने में बहुत-से कारकों का हाथ होता है। पूरे भारतीय उपमहाद्वीप

में फैली उपनिवेशवाद जैसी प्रक्रिया से, या समान प्राकृतिक परिवेशों, जैसे मैदान या नदी घाटी से ज़रूरी नहीं कि एक जैसा भूगोल निर्मित हो।

***

हाल ही में तिरुवनंतपुरम में पाठ्य पुस्तक लेखन पर हुई एक कार्यशाला* में भूगोल को इन चिन्ताओं की रोशनी में देखने की कोशिश की गई। यहाँ इस तरह के एक अनुभव की चर्चा की गई है ताकि मानव-प्रकृति सम्बन्ध के अध्ययन के लिए किसी क्षेत्र के सीमांकन के तर्काधार की पड़ताल की जा सके। दक्षिणी केरल में स्थित कुट्टनाड को पाठ्य पुस्तक के एक अध्याय के लिए क्षेत्र के तौर पर चुना गया। भूखण्ड के स्वरूप की दृष्टि से इसकी विशेषताएँ हैं - इसकी ऊँचाई का समुद्र तल से नीचे होना, तथा इसका वेम्बनाड झील के किनारों पर स्थित होना। वर्ष के उन महीनों में जब नदियों से आने वाले अलवणीय जल (मीठे पानी) का अन्तर्प्रवाह अपेक्षाकृत कम होता है तब झील में लवणीय जल (खारे पानी) की घुसपैठ द्वारा इस अलवणीय झील और समुद्र के बीच एक प्राकृतिक सम्बन्ध बन जाता है। जैवचक्र (जैसे मछलियों का प्रजनन) तथा कृषि के वार्षिक चक्र, और मनुष्य की अन्य गतिविधियाँ इन प्रक्रियाओं द्वारा प्रभावित हुईं।

केरल राज्य में कुट्टनाड का फैलाव

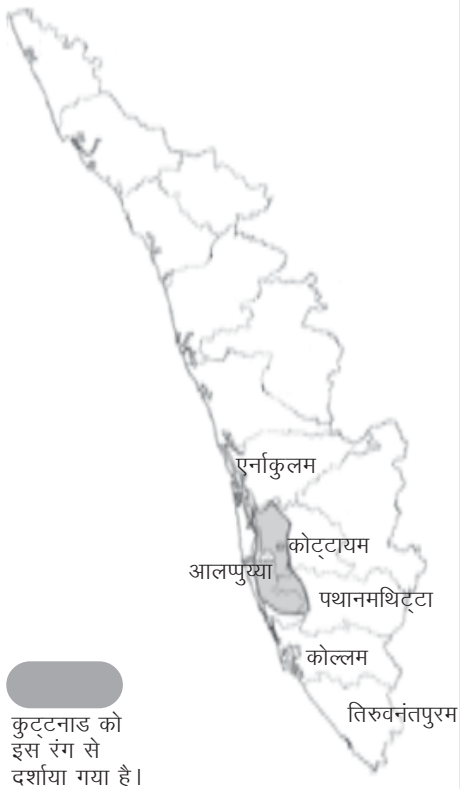

कक्षा 6 और 8 के लिए सामाजिक विज्ञान की पाठ्य पुस्तकें केरल एससीईआरटी द्वारा तैयार की गई हैं।

कुट्टनाड को भौगोलिक रूप से एक क्षेत्र की तरह चिन्हित करने का कारण कृषि में किए गए वे तमाम प्रयास हैं जिनकी वजह से वह केरल में धान की खेती के सबसे प्रमुख क्षेत्रों में से एक बन गया। अधिकांशतः पानी से भरे कुट्टनाड में ज़मीन को कृषि के लिए पुनर्उद्धारित करना पड़ता था। वहाँ खेती के लिए एक बड़ी चुनौती (उन क्षेत्रों के बिलकुल विपरीत जहाँ धान की खेती होती है) यह थी कि पानी को हटाया जाना पड़ता था। इसे अंजाम देने के लिए जलचकों (वॉटर व्हील्स) का इस्तेमाल किया गया जिनमें कई लोग लगते थे, अक्सर पारी बदल-बदल कर, ताकि पानी को बाहर निकालने का काम रात को भी चल सके। बाद में, जलचकों की जगह मिट्टी के तेल के पम्पों ने ले ली।

कुट्टनाड पुराने समय की त्रावनकोर रियासत का हिस्सा है जो वर्तमान केरल राज्य का दक्षिणी भाग है। उन्नीसवीं सदी के काफी शुरू में, नकदी फसलों के व्यापार के द्वारा त्रावनकोर दुनिया के बाज़ार में शुमार हो गया था। इससे इस क्षेत्र में खाद्यान्नों की कमी हो गई थी, और रियासत द्वारा उठाए गए कदमों में से एक था लोगों को प्रोत्साहन देकर कुट्टनाड में धान की खेती को बढ़ावा देना।* पानी को निकालने की चुनौतियों के चलते यहाँ खेती करने में दूसरी जगहों की अपेक्षा कहीं अधिक श्रम लगता था। कृषीय उत्पादन का सामाजिक ढाँचा पुराने सामन्ती सम्बन्धों से उपजा और विकसित हुआ था जिनके चलते जोतने वाले रैयतों से दासों की भाँति श्रम व निष्ठा वसूली जाती थी। जाति और लिंग के ताने-बाने से ऊँच-नीच के सम्बन्ध रचे गए जिनसे उत्पादन प्रक्रिया का ढाँचा खड़ा हुआ, जिसका सारा नियंत्रण व सम्पत्ति सम्भ्रान्त वर्ग के पास ही रही।

कुट्टनाड में, लवणीय जल की घुसपैठ की वजह से आधे साल तो खेती कर पाना असम्भव था जबकि बाकी महीनों में बाढ़ की कठिनाई बनी रहती थी। 1950 के दशक में छोटी नदियों के 'अतिरिक्त' पानी को सीधे समुद्र तक ले जाने के लिए एक अधिप्लव मार्ग (स्पिलवे) का निर्माण किया गया। इससे वेम्बनाड झील में आने वाला प्राकृतिक बहाव कम हो गया और बाढ़ नियंत्रण सम्भव हो पाया। एक अन्य सार्थक प्रयास में एक बन्ध बनाया गया जिसने खारे पानी की घुसपैठ पर रोक लगाई। अगले दशक में, कीट नियंत्रण, मृदा संवर्धन आदि के लिए किए गए रासायनिक हस्तक्षेपों तथा नए विकसित संकर बीजों ने कुट्टनाड को केरल का 'धान का कटोरा' बना दिया, यानी धान के ऊँचे उत्पादन वाला क्षेत्र।

सामाजिक संगठनों में भी बदलाव आया। हालाँकि, अपने दासोचित श्रम वाली विशेषता के साथ ज़मींदार-

*लोग वेम्बनाड झील से पुनर्उद्धारित करके हासिल की गई ज़मीनों का स्वामित्व ले सकते थे।

जोतदार सम्बन्ध अपेक्षाकृत लम्बे समय तक चला, पर आधुनिक शिक्षा व राजनैतिक विचार ने भी सामाजिक संरचना को प्रभावित किया। सामाजिक आन्दोलनों ने सामाजिक-आर्थिक जीवन के जातिगत आधार पर सवाल खड़े किए और उसे चुनौती दी। वामपन्थी विचारधारा से निकले वर्ग संघर्षों की जड़ें भी यहाँ फैलीं। इसके अलावा, कुट्टनाड ऐसा क्षेत्र बना जहाँ सरकारी कानून द्वारा भूमि की उच्चतम सीमा सफलतापूर्वक लागू की गई।

कुट्टनाड में धान का उत्पादन तो अतिरिक्त मात्रा में होने लगा, पर प्रकृति में तकनीकी हस्तक्षेपों जैसे अधिप्लव मार्ग और बन्ध के कारण झील के रुके हुए पानी में रसायनों के एकत्रित हो जाने से प्रोटीन के पारम्परिक पौष्टिक स्रोतों जैसे मछलियों और बतखों पर बुरा असर पड़ा। मिट्टी की स्वाभाविक पुनर्उत्पादन क्षमताएँ भी रसायनों के कारण बुरी तरह प्रभावित हुईं। ऊँची पैदावार के निरन्तर बने रहने पर उठे सवालों से भी रसायनों की ज़रूरत से ज़्यादा खपत पर आधारित कृषि की सीमाएँ उजागर हुईं।

आज इस क्षेत्र में रह रहे लोगों की

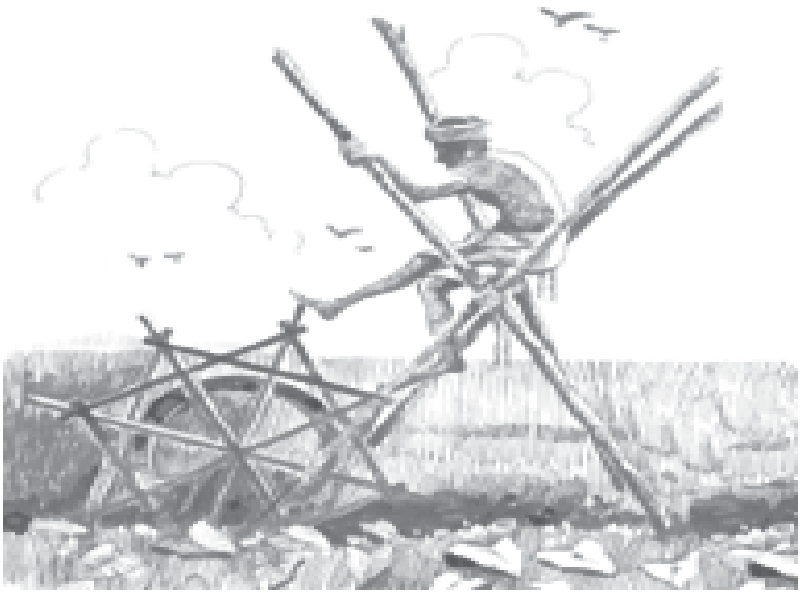

बिजली या डीज़ल पंप से पहले, धान के खेत में से पानी निकालने के लिए मानव चलित वॉटर व्हील का उपयोग किया जाता था। 8-10 लोगों के समूह में इसे चलाया जाता था। काम के साथ-साथ अक्सर गीत भी गाए जाते थे।

मुख्य आर्थिक गतिविधि अभी भी धान की खेती है, पर इनका सामाजिक संगठन बदल गया है - बड़ी जोतों और गहन श्रम पर आधारित जोतदार वाले सम्बन्धों के द्वारा होने वाली खेती की जगह मज़दूरी पर रखे गए श्रमिकों द्वारा काश्त की जाने वाली छोटी जोतों ने ले ली। जैसे आधुनिकता द्वारा कृषि प्रभावित हुई उसी प्रकार सामाजिक रचना भी ऐसे आधुनिक पेशों के कारण बदली जो ज़रूरी नहीं कि कृषि-आधारित ही थे। शिक्षा से, और जाति-लिंग की कठोरताओं के शिथिल पड़ने से नए आर्थिक मार्गों को तलाशने वाले युवा लोगों की गतिशीलता बढ़ी। सामाजिक-स्थानिक सुधार आज भी इस क्षेत्र को नया आकार दे रहे हैं, उदाहरण के लिए:

1. सड़कों और पुलों के निर्माण में वृद्धि (यह क्षेत्र पारम्परिक रूप से जलीय-यातायात पर निर्भर करता है)।
2. कृषि पर आर्थिक रूप से कम लोगों का निर्भर होना।
3. रोज़गार हेतु यहाँ के लोगों का देश के दूसरे हिस्सों तथा विदेशों की ओर प्रस्थान (बहिर्प्रवास) करना।
4. पर्यटन के लिए नया आर्थिक प्रसार जिसने नौकाघरों तथा सैरगाहों के द्वारा प्रकृति को उपभोग की वस्तु बना दिया है।

इन तथ्यों की और पड़ताल करने की ज़रूरत है, उदाहरण के लिए, किस तरह वैश्वीकरण-उदारीकरण ने कुट्टनाड के भूगोल को बदला है?

क्या हमें अभी भी यह लगता है कि कुट्टनाड का एक अलग क्षेत्र की तरह सीमांकन किया जा सकता है, या क्या वह सम्पूर्ण केरल में व्याप्त बहिर्प्रवासी लोगों तथा खाद्यान्न की कृषि में होने वाली गिरावट के परिदृश्य का ही हिस्सा बन चुका है? केवल एक विस्तृत परीक्षण ही हमें स्थिति का आकलन करने में मदद कर सकेगा।

निष्कर्ष

पढ़ना, सीखने की प्रक्रिया का एक अहम हिस्सा है और शिक्षा व्यवस्था लोगों को सुशिक्षित बनाने की आकांक्षा रखती है। पर स्कूली पाठ्य पुस्तकों में हमें तेज़ी से सिखाने की प्रवृत्ति तथा संक्षेप में सब कुछ ठूँस देने की मंशा दिखाई देती है, जिसके चलते न केवल पाठ्य पुस्तकों की भाषा अटपटी हो जाती है बल्कि वह बच्चों को विश्लेषण तथा चिन्तन के प्रति हतोत्साहित करती हैं।

चूँकि पाठ्य पुस्तकों में मुद्दों के प्रभावशाली पहलुओं को ही सामने रखा जाता है, अतः परिपूर्ण विवेचना करने में समस्या आती है। इसके अलावा सामाजिक-स्थानिक ढाँचों, जो कि उत्पादन प्रक्रियाओं का अहम हिस्सा होते हैं, की पड़ताल नहीं की जाती; इसीलिए मनुष्य और प्रकृति, दो ऐसी इकाइयों की तरह सामने आते हैं जिनमें मानो कोई आन्तरिक सम्बन्ध न हो। इन सभी वजहों से स्कूली शिक्षा में बहुत स्पष्ट राजनैतिक निहितार्थ आ जाते हैं क्योंकि इसकी विषयवस्तु और शैली, दोनों ही पूँजीवादी सम्बन्धों की वैचारिक दृष्टि से प्रभावित दिखाई देती हैं।

हालाँकि, एकलव्य की पाठ्य पुस्तकें ऊपर चर्चित पाठ्य पुस्तकों से काफी अलग हैं पर इनकी किताबें इस पुराने पड़ चुके दृष्टिकोण पर ही चलती हैं कि 'पर्यावरण भूगोल को निर्धारित करता है'। इसीलिए इन किताबों में वर्णित 'क्षेत्र' सामाजिक ढाँचे को निर्मित करने वाले कारकों में न तो उत्पादन प्रक्रिया को, और न ही संघर्ष के भूगोलों को शामिल करते हैं। इस तरह के सम्बन्धों का महत्व कुट्टनाड के अध्ययन से साफ हो जाता है जहाँ भूगोल की जड़ें उत्पादन के स्थानिक व सामाजिक सम्बन्धों में गहरी जमी हैं।

यह तर्क दिया जाता है कि शिक्षा की विषयवस्तु समानता के लिए शिक्षा की सोच पर गहरा असर करती है।

उदाहरण के लिए, पारम्परिक स्कूली व्यवस्था मनुष्य-प्रकृति सम्बन्ध के पूँजीवादी संस्करण को वैधता देती है और पर्यावरण की अवनति का भार गरीब और हाशिए पर खड़े लोगों पर डाल देती है। वह विस्थापन और लोगों को विकास के हाशिए पर धकेल दिए जाने की प्रक्रियाओं का विश्लेषण नहीं करती। और जब एकलव्य की किताबों जैसी पाठ्य पुस्तकें पर्यावरणीय नियतिवाद के खाँचे का इस्तेमाल करती हैं तो वे उन सामाजिक व स्थानिक ढाँचों (और बदलावों) को समझाने में विफल हो जाती हैं जो उत्पादन के सम्बन्धों का हिस्सा होते हैं। इस तरह, आज जब पाठ्य पुस्तकों के लिए नए अव-धारणात्मक ढाँचे रचने के प्रयास किए जा रहे हैं, वहीं दृष्टिकोणों और कार्यविधियों के ख्याल से उन प्रयासों के लगातार मूल्यांकन किए जाने की भी ज़रूरत है।

यह भी साफ है कि प्राकृतिक प्रक्रियाएँ जैसे जलवायु, भूआकार आदि या वृहद स्तर पर सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ जैसे उपनिवेशवाद, आधुनिकता, पूँजीवाद, आर्थिक वैश्वीकरण आदि समान भूगोल पैदा नहीं करतीं। विविध प्रक्रियाओं, अन्तर्क्रियाओं और संघर्ष के मेल से भूगोल का जन्म होता है। पाठ्य पुस्तकों में अभी तक इन दृष्टिकोणों और कार्यविधियों का समावेश नहीं किया है जिनसे छात्रों को दुनिया को बेहतर ढंग से समझने में मदद मिल सकेगी।

यमुना सन्नी: एकलव्य, होशंगाबाद के सामाजिक विज्ञान कार्यक्रम का हिस्सा हैं। स्कूली बच्चों के लिए एटलस के निर्माण में कार्यरत। टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसिज़, मुम्बई में अतिथि प्राध्यापिका।

अँग्रेज़ी से अनुवाद: भरत त्रिपाठी: पत्रकारिता का अध्ययन। स्वतंत्र लेखन और द्विभाषिक अनुवाद करते हैं। होशंगाबाद में निवास। (भाग-1 में 'जैसे उद्देश्य धुँधलाए' का अनुवाद टुलटुल बिस्वास ने किया है।)

यह लेख इंडियन ज्यॉग्रफी इन द 21स्ट सैंचुरी: द यंग ज्यॉग्रफर्स एजेंडा, (सम्पादन: रवि एस. सिंह) कैम्ब्रिज स्कॉलर्स पब्लिशिंग, 2009, में छपे लेख 'लैजिटिमाइज़ेशन ऑफ नॉलेज: पॉलिटिकल कॉनोटेशन्स इन ज्यॉग्रफी' (पेज 108-127) का सम्पादित अंश है।

लेख में उल्लेखित पाठ्य पुस्तकें:

1. *म.प्र., एससीईआरटी, 2004, IX, 3*
2. सामाजिक विज्ञान, एकलव्य, भोपाल: कक्षा-6 (1998), कक्षा-7 (2001), कक्षा-8 (2004).
3. भूगोल, एनसीईआरटी, नई दिल्ली: कक्षा-6 (2002, 2004), कक्षा-7 (2004), कक्षा-8 (2004), कक्षा-9 (2002), कक्षा-10 (2003), कक्षा-11 (2002).
4. राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा, 2005, एनसीईआरटी, नई दिल्ली, 2005.
5. Our Environment , Textbook in Geography for class VII, NCERT, New Delhi, 2007.
6. The Earth, our Habitat, Textbook in Geography class VI, NCERT, New Delhi, 2007.